जैन दर्शन में आत्म-विज्ञान

☐ जशकरण डागा

समग्र विज्ञान मूलतः दो तत्त्वों से निर्मित है—जीव और अजीव। दोनों तत्त्व अनादि, अनंत और शाश्वत हैं। संसार के विभिन्न रूप, दशा और परिणाम सभी इन दो तत्त्वों की पर्यायें हैं। संसार एक विशाल नाट्यशाला है जहाँ जीव-अजीव का नाटक अनादि से होता रहा है और अनंतकाल तक होता रहेगा। जीव नाट्यकार है और अजीव उसका सहायक। जीव मोह रूप मदिरा को पीकर उन्मत्त बना अपने मूल स्वभाव को भूल विभाव दशा में बहुरूपिया बना भटक रहा है। यह अनादि भटकाव जीव का किस प्रकार रुके और वह अपने मूल शुद्ध परमात्म-स्वभाव को कैसे प्राप्त हो, इस हेतु स्व-स्वरूप को समझना परमावश्यक है। स्व-स्वरूप को समझने हेतु यहाँ आत्म-विज्ञान का संक्षेप में निरूपण किया जाता है।

आत्म-तत्त्व क्या है ?

तत्त्व का अर्थ—'तस्य भावस्तत्त्वम्' के अनुसार सद्भूत वस्तु को तत्त्व कहा जाता है। जो सदा अजर, अमर, अनश्वर, शाश्वत, चैतन्य, अरूपी और मूल में निरंजन, निराकार ब्रह्म रूप है, वही आत्म-तत्त्व है।

आत्म-तत्त्व की पहचान क्या है ?

(१) जो सुख-दुःख की अनुभूति करता है।

(२) जिसमें उपयोग-ज्ञान विद्यमान रहता है।

(३) जो प्राण-चेतनायुक्त है और वीर्य-शक्तिवाला है।

(४) जो नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव गति रूप चारों गतियों में विभिन्न दशाओं में परिभ्रमण करता है।

(५) जो शाश्वत है—कभी नष्ट नहीं होता है। जो अग्नि से जलता नहीं, धूप से सूखता नहीं, जल में भीगता नहीं एवं हवा से उड़ता नहीं है।

आत्मा के मुख्य नाम क्या हैं ?

संसार में रही आत्मा विभिन्न नामों से पहचानी जाती है। मुख्य नाम इस प्रकार हैं—

(१) जीव—जो जीवत्व और मृतत्व पर्याय धारण करता है।

(२) प्राणी—जो मन इन्द्रियादि दस द्रव्य प्राणों और ज्ञानदर्शन आदि चार भाव प्राणों को धारण करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) चेतन—जो चेतना या उपयोग शक्ति से युक्त है।

(४) सत्त्व—जो सद्भूत, सत्य व शाश्वत है।

आत्मा के लक्षण

आत्मा अनंत धर्म युक्त है। उसके मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं—

"नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एवं जीवस्स लक्खणं।"

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, वीर्य व उपयोग ये जीव के लक्षण हैं। इनके अतिरिक्त अगुरुलघुत्व और अमूर्तत्व आदि भी जीव के लक्षणों में आते हैं।

आत्मा के विभिन्न स्वरूप

शुद्धात्मा ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति रूप चतुष्टय से युक्त है। किन्तु मोहग्रस्त आत्मा अपने अनंत ऐश्वर्य से वंचित है। विभिन्न रूपों में रहने से उसका वर्गीकरण ज्ञानियों ने इस प्रकार किया है—

(१) द्रव्यात्मा—प्रत्येक आत्मा असंख्य प्रदेशमय है।

(२) कषायात्मा—क्रोध, मान माया व लोभ में प्रवृत्त आत्मा।

(३) योगात्मा—जो योग—मन, वचन व काय सहित हो।

(४) उपयोगात्मा—जो ज्ञान-दर्शन में उपयोग-युक्त हो।

(५) ज्ञानात्मा—जो ज्ञान में प्रवृत्त हो।

(६) दर्शनात्मा—जो दर्शन में प्रवृत्त हो।

(७) चारित्रात्मा—जो चारित्र में प्रवृत्त हो।

(८) वीर्यात्मा—जो पुरुषार्थ से युक्त हो।

इनमें पहली, चौथी, पांचवी व छठी ये चार आत्माएँ द्रव्य और गुण अपेक्षा से होने से सभी जीवों में होती हैं। किन्तु अन्य शेष चार आत्माएँ जीव के अशुद्ध स्वरूप में ही मिलती हैं।

आत्मा के भेद:—

आत्माएँ अनंत हैं और सभी का अलग-अलग अस्तित्व है। उनकी विभिन्न दशा और विभिन्न पर्यायों की अपेक्षा से उनके भेद स्पष्ट किए जाते हैं—

१. **एक भेद:**—सभी आत्माएँ चेतना, उपयोग युक्त हैं। अतः संग्रहनय की अपेक्षा सब एक हैं। आगम में कहा भी है[1]—'एगे आया'। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि आत्माओं का अस्तित्व अलग-अलग स्वतन्त्र नहीं है। द्रव्य की अपेक्षा सभी आत्माएँ अलग-अलग हैं। अगर ऐसा न हो तो फिर एक समय में ही एक आत्मा द्वारा सुख की तो दूसरी आत्मा द्वारा दुःख की अनुभूति या एक द्वारा हँसना तो दूसरी द्वारा रोना आदि विभिन्न क्रियाएँ कैसे होती ?

---

१. स्थानांगसूत्र, स्थान १

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **दो भेदः**—सिद्ध और संसारी—जो आत्माएँ कर्मरहित हो व शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हो चुकी हों वे सिद्ध कहलाती हैं और जो कर्म सहित हैं वे संसारी हैं।

३. **तीन भेदः**—(i) **बहिरात्माः**—जो आत्मस्वरूप को न समझ शरीर को ही आत्मा मानते हैं,विषय भोगों में लगे रहते हैं, जो 'जीवेत् यावद्' सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः।।" के सिद्धान्त को मानते हैं और तत्त्व को यथार्थतः नहीं मानते हैं, वे सब बहिरात्मा हैं। यह आत्मा की हीनतम वैभाविक, और सुप्त दशा है। इसे एकान्त अज्ञान-दशा भी कहते हैं।

(ii) **अन्तरात्मा**—जो मिथ्यात्व की भाव-निद्रा से जाग्रत हो स्व-स्वरूप को जानकर उसमें अवस्थित होती हैं, जिनमें सत्य, असत्य, धर्म, अधर्म का विवेक जाग्रत होता है और जो शरीर व आत्मा को भिन्न-भिन्न समझकर भेद ज्ञान का अनुभव करती हैं वे आत्माएँ अन्तरात्मा की श्रेणी में आती हैं। ऐसी आत्माएँ यथाशक्ति आत्मसाधना व धर्म में प्रवृत्त भी होती हैं। सम्यग्दृष्टि श्रावक श्राविकाएँ व छद्मस्थ साधु साध्वी सब इस के अन्तर्गत होते हैं।

(iii) **परमात्मा**—परमात्मा का अर्थ है परम (पूर्ण रूप से) उत्कृष्ट आत्मा। आत्म-साधना से जो आत्माएं घाती कर्मों का क्षय कर आत्मविकास की सर्वोच्च भूमिका को प्राप्त होती हैं, वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो 'परमात्मस्वरूप' हो जाती हैं। जब अवशेष चार अघाती कर्म क्षय हो जाते हैं तो सशरीर परमात्मा, अशरीरी बन निराकार परमात्मा-सिद्ध स्वरूप हो जाती हैं।

इस प्रकार बहिरात्मा संसारी जीवन का, अन्तरात्मा साधक जीवन का और परमात्मा विशुद्ध दशा के प्रतीक रूप हैं। प्रत्येक बहिरात्मा (भव्यात्मा) साधना करते-करते जीवन विकास कर अन्तरात्मा होकर अन्ततः राग द्वेष का क्षयकर परमात्मा बनने का अधिकारी है। इसलिए कहा गया है—'अप्पा सो परमप्पा।'

तीन भेद अन्य प्रकार से—(i) सिद्ध (ii) त्रस और (iii) स्थावर।

(iv) **चार भेद**—(i) पुरुष वेदी (ii) स्त्री वेदी (iii) नपुंसक वेदी और (iv) अवेदी।

(v) **पाँच भेद**—(i) नारक (ii) तिर्यंच (iii) मनुष्य (iv) देव (v) सिद्ध।

(vi) **छह भेद**—(I) एकेन्द्रिय (ii) द्वीन्द्रिय (iii) त्रीइन्द्रिय (iv) चतुरिन्द्रिय (v) पंचेन्द्रिय (vi) अनिन्द्रिय (सिद्ध)।

(vii) **सात भेद**—(i) पृथ्वी (ii) अप् (पानी) (iii) तेजस् (अग्नि) (iv) वायु (v) वनस्पति (vI) त्रस, काय तथा (vii) अकाय सिद्ध।

(vii) **आठ भेद**—(i) नारक (ii) तिर्यंच (iii) तिर्यंचनी (iv) मनुष्य (v) मनुष्यनी (vi) देव (vii) देवी और (viii) सिद्ध।

(ix) **नव भेद**—(i) नारक (ii) तिर्यंच (iii) मनुष्य और (iv) देव, ये चारों पर्याप्त और अपर्याप्त तथा नवम भेद सिद्ध।

(x) **दस भेद**—पाँच स्थावर (पृथ्वी, अप आदि), तीन विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय) पंचेन्द्रिय तथा दसवां भेद सिद्ध।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(xi) **ग्यारह भेद**—एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के पर्याप्त व अपर्याप्त की अपेक्षा दस भेद और ग्यारहवाँ भेद सिद्ध।

(xii) **बारह भेद**—पाँच स्थावरों के सूक्ष्म और बादर की अपेक्षा दस भेद, एक त्रस और बारहवाँ सिद्ध।

(xiii) **तेरह भेद**—षट्काय (पाँच स्थावर व त्रस) के पर्याप्त य अपर्याप्त की अपेक्षा बारह भेद तथा तेरहवाँ भेद सिद्ध।

(xiv) **चौदह भेद**—(i) नारक (ii) तिर्यंच (iii) तिर्यंचनी (iv) मनुष्य (v) मनुष्यनी तथा चार प्रकार के देव व चार प्रकार की देवियाँ (भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिष्क, वैमानिक) यों तेरह भेद। चौदहवाँ भेद सिद्ध।

(xv) **पन्द्रह भेद**—(i) सूक्ष्म एकेन्द्रिय (ii) बादर एकेन्द्रिय, तीन विकेन्द्रिय तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय यों सात भेद के पर्याप्त, अपर्याप्त ये चौदह भेद होते हैं। पन्द्रहवाँ भेद सिद्ध।

इस प्रकार जीवों के विभिन्न भेद-प्रभेद उनके वर्गीकरण के भेद से होते हैं। संसारी जीवों के विस्तार से ५६३ भेद भी होते हैं। स्पष्टीकरण नव तत्व या पच्चीस बोल के थोकड़े आदि में देखा जा सकता है। इन भेदों को ध्यान में लेने से जीवों की विभिन्न पर्यायों व अवस्थाओं का परिज्ञान होता है जो आत्मा का स्वरूप समझने में सहायक हैं।

आत्मा का अस्तित्व शाश्वत है—

चार्वाक आदि कुछ नास्तिक आत्मा के पृथक् अस्तित्व को नहीं मानते हैं। उनका कथन है—

"एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगोत्ति आहिया।
अह तेसिं विणासेणं विणासो होइ देहिणो।"[1]

अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतों से एक आत्मा उत्पन्न होती है। इन भूतों के नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है, किन्तु यह मान्यता भ्रामक एवं असत्य है, क्योंकि पृथ्वी आदि भूतों के गुण अन्य हैं तथा आत्मा का गुण चैतन्य अलग है। यदि यह कथन मान्य किया जाए कि सब भूतों के मिलने से चैतन्य गुण प्रकट होता है, तो जो गुण कभी किसी भूत में नहीं, वह उनके मिलने पर कैसे उद्भूत हो सकता है? कदाचित् पंच भूतों से जीव की उत्पत्ति मान ली जाए तो फिर उसकी पंच भूतों के रहते मृत्यु नहीं होनी चाहिए। किन्तु यह सर्वविदित है कि पंच भूतों से युक्त देह पड़ी रहती है, और जीव की मृत्यु हो जाती है। यदि पंच भूतों में किसी भूत की कमी या अधिकता से मृत्यु हो तो उसकी पूर्ति भी सब प्रकार से की जा सकती है, विशेषकर आज के विकसित विज्ञानयुग में ऐसा करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। किन्तु मृत्यु होने के बाद पुनः मृत शरीर में जीवन का सृजन लाख प्रयत्न करने पर भी संभव नहीं होता।

---

१. सूत्रकृतांग, प्र. श्रु.

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

कुछ दार्शनिक आत्मा को तो स्वीकारते हैं किंतु उसे शाश्वत तत्त्व न मानकर क्षणिक व नश्वर मानते हैं किंतु यह मान्यता भी असत्य है। प्राय: जातिस्मरण ज्ञान की घटनाएँ प्रकाश में आती रहती हैं। अनेक आत्माओं ने अपने पूर्वभवों को बताया है और परावैज्ञानिकों द्वारा जाँच करने पर पुनर्जन्म की अनेक घटनायें सत्य सिद्ध हुई हैं, जो आत्मा के शाश्वत अस्तित्व की पुष्टि करती हैं।

श्रीमद् राजचन्द्र, जो इस युग के एक विशिष्ट साधक और तत्त्ववेत्ता हुए हैं तथा जिन्हें जातिस्मरण ज्ञान हुआ था, उन्होंने आत्मा की अनुभूति कर आत्मा के अस्तित्व की पुष्टि की है।

"आत्मानी शंका करे आत्मा पोते आप।
शंकानुं करनार ते, अचरज एह अमाप॥
जड़ थी चेतन ऊपजे, चेतन थी जड़ थाय।
एहवो अनुभव कोई ने, क्यारे कदी न थाय॥
क्रोधादि तरतम्यता, सर्पादिक ने मांय।
पूर्व जन्म संस्कार ते, जीव नित्यता त्यांय॥
आत्मा द्रव्य नित्य छे, पर्यायो पलटाय।
बालादिक वय मण नुं, ज्ञान एक ने थाय॥"

वस्तुत: आत्मा अरूपी अमूर्त तत्त्व है। दिखाई नहीं देने से अनेक लोग नहीं मानते हैं। किन्तु केवल दिखाई न देने से उसका अस्तित्व न मानना ठीक नहीं है। अनेक रूपी पदार्थ भी सूक्ष्म होने से नजर नहीं आते जैसे ध्वनि, विद्युत् प्रवाह, वायु आदि। किन्तु इनके अस्तित्व को सभी स्वीकारते हैं। फिर आत्मा तो ऐसा अलौकिक सूक्ष्म तत्त्व है जिसमें शब्द, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, रूप आदि कुछ नहीं है। वह केवल ज्ञानमय और उपयोग रूप है। अत: वह शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय सभी पर नियंत्रण करने वाला होकर भी इन सबकी पकड़ से परे है। ऐसे विलक्षण महान् आत्मतत्त्व को स्वानुभूति से नि:शंक स्वीकार किया जाना चाहिए।

आत्मा ही नरक, स्वर्ग और मोक्ष है—

भगवान् महावीर ने आत्मा का विशिष्ट स्वरूप दर्शाते हुए कहा है—

"अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दनं वनं॥"[2]

अर्थात् आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी व शाल्मली वृक्ष है तथा आत्मा ही कामधेनू गाय और नन्दन वन है।

"अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ॥"[3]

अर्थात् आत्मा स्वयं ही अपने सुख दु:ख का कर्त्ता हर्त्ता है, सदा सन्मार्ग पर लगी हुई आत्मा अपनी मित्र है और कुमार्ग पर लगी हुई दुराचारी आत्मा अपनी शत्रु है।

---

२. उत्तरा. अ. र. गा. ३६। ३. उत्तरा. अ. र. गा. ३६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पणामेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥"[४]

अर्थात् आत्मा से ही संघर्ष कर, बाहर किससे कर रहा है ? जो आत्मा से आत्मा को जीतता है वही सुखी होता है ।

"अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥"[५]

अर्थात् आत्मा पर ही नियंत्रण करो । आत्मा ही दुर्जेय है । जो आत्मा पर नियंत्रण कर लेता है, वह इस लोक तथा परलोक में सुखी होता है ।

आत्म-विज्ञान की दुर्लभ प्राप्ति—

नव तत्त्वों में जीव तत्त्व प्रमुख व प्रथम है । किन्तु इसकी सम्यक् समझ व श्रद्धा अति दुर्लभ है । प्रथम तो तत्त्व को जानने व तत्त्वसंबंधी श्रवण की रुचि ही सब जीवों को नहीं होती है । ज्ञानी कहते हैं—

"बिरला सुणेन्ति तच्चं, बिरला जणंति तच्चदो तच्चं ।
बिरला भावहि तच्चं, बिरलाणं धारणा होवि ॥"

अर्थात् बिरल (पुण्यशाली-निकटभव्य) आत्माएँ तत्त्व की बात सुनना पसंद करती हैं, सुनने वालों में भी बिरल व्यक्ति तत्त्व को जान पाते हैं । जानकारों में भी बिरल ही भाव से तत्त्व को स्वीकारते हैं तथा भाव से स्वीकारने वालों में भी उसकी (सम्यक्) श्रद्धा करने वाले और भी विरल होते हैं ।

तीर्थंकर प्रभु के निकट सेवा में रहने वाले और नव पूर्वों तक का ज्ञान प्राप्त कर लेने वाले भी अनेक जीव ऐसे होते हैं जो आत्म-तत्त्व के विषय में पर्याप्त जानकारी रखते हुए भी आत्म-तत्त्व की सम्यक् श्रद्धा से विहीन होते हैं । उनके ज्ञान से दूसरे जीव आत्मज्ञानी हो कल्याण को प्राप्त करते हैं किंतु वे एकान्त मिथ्यादृष्टि ही बने रहते हैं । वे बहुश्रुत और महान् पंडित होते हूए भी आत्मा के प्रति शंकाग्रस्त बने रहते हैं । चारों वेदों के पाठी महापण्डित इन्द्रभूति गौतम जैसे महापुरुष भी भगवान् महावीर से सद्बोध पाने से पूर्व 'आत्म-तत्त्व' के प्रति शंकाशील ही थे ।

इस आत्म-तत्त्व पर सम्यग् श्रद्धा लाये बिना जीव कोई कितना ही त्याग, तप और क्रियाकाण्ड करे, उसका पृथम गुणस्थान (मिथ्यात्व) भी नहीं छूट पाता है । जैसे बिना अंक के शून्य (बिन्दु) कितने भी हों उनका महत्त्व नहीं, वैसे ही मोक्ष मार्ग में बिना आत्म-श्रद्धान के क्रिया का कोई महत्त्व नहीं है ।

भगवान् महावीर प्रभु ने शरीर को नौका, आत्मा को नाविक और संसार को समुद्र

४. उत्तरा अ. ९, गा. ३५
५. उत्तरा. अ. १, गा. १५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की उपमा देते हुए फरमाया है कि महान् मोक्ष की एषणा करने वाले महर्षि संसार-समुद्र को तैर जाते हैं।[६]

अतः भव्य आत्माओं को आगम प्रमाण और गुरुगम से स्वानुभूतिपूर्वक आत्मविज्ञान को यथार्थतः समझ कर उस पर सम्यक् श्रद्धा लाकर संसार-समुद्र से तिरने की कला—भेदविज्ञान को प्राप्त कर तदनुरूप पुरुषार्थ से मोक्ष की प्राप्ति करना चाहिए। यही अभीष्ट है।

—टोंक

□□

६. उत्तरा. अ. २३ गा. ४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org